समाज सुधार का उपकरण है - 'व्यंग्य'

डॉ॰ अनुपमा तिवारी
असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, हिन्दी
अलायंस विश्वविद्यालय, बंगलोर
फोन – 8886995593/8142623426
ईमेल- anupama.tiwari@alliance.edu.in

व्यंग्य एक धारदार बाण के रूप में प्रयुक्त होता है जो तीक्ष्णता से अराजकता को भेदकर, सुधारवादी दृष्टिकोण का सार्थक उद्देश्य लिये रहता है। व्यंग्य का प्रयोग उतना ही पुरातन है जितना कि लोक परिवेश और लोक संस्कृति। लोकतत्व के अंतर्गत - लोकोक्तियों, कहावतों और किंवदंतियों में व्यंग्य की गहरी पैठ है। 'आंख के अंधे नाम नैन सुख', 'जैसे नागनाथ वैसे सांपनाथ'', 'चोर चोर मौसेरे भाई', 'अधजल गगरी छलकत जाय' आदि तमाम उदाहरणों में व्यंग्य निहित है। जिनका कार्य ही यही है कि – अपने कथन, उक्ति या वाणी के द्वारा किसी पथभ्रष्ट, अनीतिवान व्यक्ति, समुदाय या फिर समाज को सही दिशा अवलोकित करना। दूसरे शब्दों में व्यंग्य को समाज सुधार का उपकरण भी माना जाये तो अत्युक्ति न होगी क्योंकि ये अपने प्रहार से विकृतियों पर चोट पहुंचाती और चेतना को जागृत करती हैं।

हिंदी साहित्य में व्यंग्य आदिकाल से ही है। भारतेंदु काल में जब से गद्य विधा विकसित हुयी तब से व्यंग्य और उसके प्रयोग में भी परिवर्तन आया। भारतेंदु ने व्यंग्य का निशाना अंग्रेजों के खिलाफ साधा था और जनमानस को सचेत किया जिसका सफल प्रयोग उनकी मुकरियों में किया गया है। द्विवेदी युग में अंग्रेजों के शोषण, सामाजिक कुरीतियां, धर्माडम्बरों, पाश्चात्य के अंधानुकरण फैशन-परस्ती पर हास्य-व्यंग्य से प्रहार करने वाली अनेक कविताएं लिखी गईं। महावीर प्रसाद द्विवेदी और बाल मुकुंद गुप्त इसमें अग्रणी हैं। "बालमुकुंद गुप्त ने तत्कालीन वाइस राय लॉर्ड कर्जन को अपने व्यंग्य का निशाना बनाया। छायावादी युग में ईश्वरी प्रसाद शर्मा तथा पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने कविताओं और पैरोडियों में अपनी गहरी समझ और निर्भीकता का परिचय दिया। निर्भीकता सफल व्यंग्य की पहली शर्त है।"(नगेंद्र, हरदयाल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 421) हर विधा – निबंध, कहानी, उपन्यास, नाटक सबमें व्यंग्य प्रयोग के आधार पर ही रचना और रचनाकार की सफलता बहुधा टिकी होती है । हरिशंकर परसाई जी ने व्यंग्य को नया प्रारूप दिया। "परसाई जी की सारी रचना प्रक्रिया और उनकी विचार – प्रक्रिया उस समाज के कटु यथार्थ के समानांतर चलती है जिस समाज में अवसरवादी राजनीति है, अन्याय है, प्रजातंत्र अपनी परिभाषा खो चुका है, भ्रष्टाचार रक्तबीज बन गया हो ऐसे कठिन समय में परसाई ने अपने व्यंग्य में ऐसा शिल्प विकसित किया जिसमें कहने की सादगी, संवेदना की तीव्रता और भोगे हुये यथार्थ की तस्वीरें साफ उभरकर आती हैं।"2 (स्मृति शुक्ल, हिन्दी व्यंग्य परम्परा और विवेकरंजन के व्यंग्य, रचनाकार.org) व्यंग्य विकास यात्रा में श्री लाल शुक्ल, नरेंद्र कोहली, शरद जोशी, ठाकुर प्रसाद सिंह, नारायण चतुर्वेदी, भीमसेन त्यागी, सूर्यबाला, ज्ञान चतुर्वेदी और प्रेम जनमेजय आदि लब्ध प्रतिष्ठित नाम हैं। हरिशंकर परसाई के व्यंग्य का वैशिष्ट्य यह है कि आपने समाज की विसंगतियों पर व्यंग्य करने के साथ ही साथ अपने उपर भी व्यंग्य का बाण चलाया है जो कि एक साथ दो निशाना साधने में सिद्धहस्त है। एक तो यह कि बिना किसी पर प्रत्यक्ष रूप से प्रहार किये अपने को आगे कर आत्मलोचन शैली में व्यंग्य लिखा है। दूसरा व्यंग्य का जो भी उद्देश्य है वह दूसरे के लिए ही प्रेरक है। समाज में व्याप्त मुख स्तुति के लोभी प्रवृत्ति वाले व्यक्ति जिस प्रकार थोडे में ही अपने आपको ईश के सिन्हासन पर बैठा समझने लगते हैं और गदगद हो सामने वाले को तुच्छ भाव से परखने लगते हैं उन पर लेखक का प्रहार है। "सोचता हूं, लोग मेरे चरण अब क्यों छूने लगे हैं? यह श्रद्धा एकाएक कैसे पैदा हो गई? पिछले महीनों में मैंने ऐसा क्या कर डाला? कोई साधना नहीं की। समाज का कोई कल्याण भी नहीं किया। दाडी नहीं बढाई । भगवा भी नहीं पहना। बुजुर्गी भी नहीं आई। लोग कहते हैं ये वयोवृद्ध हैं। और चरण छू लेते हैं वे अगर कमीने हुए तो उनके कमीनेपन की उम्र भी साठ-सत्तर साल हुई। लोग वयोवृद्ध कमीनेपन के भी चरण छू लेते हैं। मेरा कमीनापन अभी श्रद्धा के लायक नहीं हुआ है।"3 (हरिशंकर परसाई, विकलांग श्रद्धा का दौर, पृ.- 04) अपना कार्य साधने के लिए अथवा अपना प्रभाव डालने के

लिए या फिर आवश्यकता से अधिक सांगत्य पाने के लिए आज समाज में व्यक्ति बनावटी श्रद्धा भाव का प्रदर्शन करता है। मूलत: श्रद्धा भाव वह भाव होता है जब किसी के प्रति अनायास उसके किसी गुण विशेष अथवा आत्मीयता या प्रेम भाव के प्रति आसक्त हो जाते हैं और उसे वह सम्मान देने के लिए विवश हो जाते हैं जो हम या तो अपने माता- पिता या ईश्वर को देते हैं। किसी के प्रति निस्वार्थ श्रद्धाभाव बहुत ही पुनीत होता है। परसाई का अंतर्मन इस बात से विस्मित है कि आज श्रद्धा स्थूल बनकर रह गई है। इसी की ओट में परसाई जी ने दिग्भ्रमित मानस के बौद्धिक परख को सुधारने का संकेत किया है।

शिक्षा व्यवस्था पर आपने जो कटाक्ष किया है उससे यह लगता है कि बिना किसी के आत्मसम्मान को क्षति पहुंचाये शिक्षा जगत के धांधली का पर्दाफाश करना वह भी सरल भाषा के साथ वह आप जैसा साधक ही कर सकता है। "श्रद्धेय बनने की मेरी इच्छा तभी मर गई थी। मैंने श्रद्धेयों की दुर्गति भी देखी। मेरा एक साथी पी-एच. डी. के लिए रिसर्च कर रहा था। डॉक्टरेट अध्ययन और ज्ञान से नहीं, आचार्य कृपा से मिलती है। आचार्यों की कृपा से इतने डॉक्टर हो गए हैं कि बच्चे खेल-खेल में पत्थर फेंकते हैं तो किसी डॉक्टर को लगता है। एक बार चौराहे पर यहां पथराव हो गया। पांच घायल अस्पताल में भर्ती हुए और वे पांचों हिंदी के डॉक्टर थे। नर्स अपने अस्पताल के डॉक्टर को पुकारती : 'डॉक्टर साहब' तो बोल पडते थे ये हिंदी के डॉक्टर।"4 (वही, पृ. 5) हमारी शिक्षा व्यवस्था प्रदूषित हो चुकी है। यहां ज्ञानार्जन कम और व्यवसाय अधिक चल रहा है। आदर्श शिक्षक शब्द का अर्थ धूमिल होता जा रहा है। न तो उनमें पढाने की आकुलता है और न ही छात्रों में सीखने की उत्कण्ठा। डॉक्टरेट होना जहां कठोर परिश्रम से शोध किये गए ज्ञान का साक्ष्य था आज वह मात्र खानापूर्ति बनकर रह गया है। आचार्यगण अपनी धौक जमाने के लिए शोधार्थियों को सीखने हेतु उत्प्रेरित नहीं करते तो छात्र भी आचार्य के शिकंजे से मुक्त होने के लिए गूगलदेव का सहारा लेकर चार-पांच सौ पृष्ठों के डॉक्टर बन जाते हैं। यह इतना सुगम मार्ग बन गया है कि पी-एच.डी. वालों की बहुलता है। व्यंग्यकारों ने इस स्थिति को परिवर्तित करने की कोशिश की है। शिक्षा के ऐसे ही विकृत रूप पर प्रतिष्ठित लेखिका सूर्यबाला जी ने भी बडे ही रोचक ढंग से पक्ष को प्रस्तुत किया है- "अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम।" प्रस्तुत दोहा मुझे तीस से भी ज्यादा वर्षों से प्रिय है, अर्थात तब से जब इसका भावार्थ भी समझ नहीं आया था। और आता भी कहां से? हमारी हिन्दी अध्यापिका ने कभी हमें बताया ही नहीं !.....उन्हें स्वयं ही इस पंक्ति का भावार्थ, गूढार्थ नहीं आता था, और इसमें उनका दोष भी नहीं था। हमने विश्वस्त सूत्रों से पता लगाया था कि उनकी अध्यापिका और उन अध्यापिका की अध्यापिका को भी इस दोहे का गूढार्थ नहीं मालूम था। इसलिये गूढ़ार्थ न समझा पाने की यह सुखद परम्परा पीढी-दर-पीढी संभ्रमित होती चली गयी। विद्यार्थी और शिक्षक बडे फक्र से इस गौरवशाली परम्परा को ढोते हुए गुढार्थ समझने –समझाने की फजीहत से बचे रहे।"5(सूर्यबाला, अजगर करे न चाकरी, पृ. – 21) 'अंधे अंधा ठेलिया, दून्यूं कूप पडंत' तो आज हमारे समाज में सर्वत्र व्याप्त है। सूर्यबाला जी ने जिस सूक्ष्मता से स्थिति का परिचय पाठक से कराया है वह जहा दयनीय स्थिति का द्योतक है वहीं भावी शिक्षकों के लिए एक सीख भी कि किस प्रकार उन्हें अपनी गुणवत्ता मे सुधार लाना आवश्यक है। यह व्यंग्य न ही किसी को मर्माहत करने वाला है न ही हास्य प्रधान है और न ही आक्रोश पूर्ण है फिर भी व्यंग्य में विचार जिस प्रकार उद्घाटित हुआ है वह सुधारवादी है। व्यंग्यकार अपने कलम के ऐसे ही जादूगरी वाक्यों से समूचे समाज को परिवर्तित करने की अद्भुत सामर्थ्य रखते हैं।

नरेंद्र कोहली ने भी 'पांच एब्सर्ड' उपयास के अंतर्गत 'दि कॉलेज' में विद्यार्थी जीवन को प्रस्तुत किया है। लेखक ने इसमें प्राध्यापकों की स्वार्थ सिद्धि भावना, कर्तव्य के प्रति अवहेलना, शिक्षा के प्रति उदासीनता, विद्यार्थियों के पोशाक और अपरिपक्वता को व्यंग्यात्मक धरातल पर उद्घाटित किया है। नरेंद्र कोहली ने कई व्यंग्य का लेखन किया है जैसे – कबूतर, कैनोपी का स्वयंवर, अमरीकन जांघिया, अनागत, ब्लड बैंक की अफ्सरा जैसी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाओं में सामाजिक विसंगतियों का अनावरण हुआ है। कोहली जी के व्यंग्य में गम्भीरता और प्रगल्भता दिखायी देती है। आपका कथ्य ही नहीं शिल्प भी वैविध्यपूर्ण है। प्रसंगवक्रता पर जबर्दस्त अधिकार है। कोहली के बाद यदि व्यंग्य को सही कथ्य और शिल्प को लेकर कोई न्याय कर पा रहा है तो वह सूर्यबाला, ज्ञान चतुर्वेदी और प्रेम जनमेजय। प्रेम जनमेजय ऐसे व्यंग्यकार हैं जो व्यंग्य की आवश्यकता और समाज हित की बात को समझते हुए हास्य को परे रख एक ही उद्देश्य – देश सुधार, समाज विकास, विसंगतियों का अंत और स्वस्थ समाज का निर्माण को सर्वोपरि मानते हुए व्यंग्य लेखन में अग्रसर हैं। भारत में अंधविश्वास अपरिमित है। इसका लाभ कभी मुगलों और अंग्रेजों ने उठाया था तो वर्तमान समय में इस देश के साधु -संत उठा रहे हैं। जनता के विश्वास का हनन करके ईश्वर के नाम पर जिस पाक ढंग से अपना व्यापार चला रहे हैं वह जघन्य और निंदनीय। जनमेजय जी ने इस संदर्भ में बड़े रोचक ढंग से लिखा कि –

"धनी हैं हमारे कलयुगी संत, जो सदा अपने भक्तों के बारे में ही सोचते हैं। वे माया-मोह के विष को शिव की तरह इसलिए गले लगाते हैं की उनके भक्त माया-मोह से मुक्त हो सकें। सांसारिक लोग कितने कुटिल,मायाग्रस्त, कामान्ध और कीचड़ में सने हुए हैं, जबकि इसके विपरीत, हमारे परम ज्ञानी संत भक्तों से अधिक कीचड़ में लथपथ होने के बावजूद 'कमल' की तरह कैसे निर्लिप्त हैं!"6 (प्रेम जनमेजय, कौन कुटिल खल कामी, संकलित व्यंग्य, पृ॰ – 22) कहना न होगा कि 'साँप भी मर जाये और लाठी भी न टूटे' की शैली में जिस प्रकार लेखक ने आज सर्वत्र व्याप्त आध्यात्म के ठेकेदारों को आईना दिखाया है वह अभिनंदनीय है। कुशल व्यंग्यकार की यही विशिष्टता है कि वह विषाक्त संदर्भों को इतनी सूक्ष्मता से प्रस्तुत करता है कि पाठक की आँखें स्वत: खुल जाती हैं और वे सजग हो जाते हैं। प्रेम जनमेजय जी इसमें सिद्धहस्त हैं। इसी संदर्भ में एक और उदाहरण द्रष्टव्य है – "वैसे तो आजकल संतई भी एक तरह का उद्योग हो गया है और बिना उद्योग के संतई जमती कहां है! जैसे एक सच्चा उद्योगपति कामगारों के कर्म-फल पर अपना अधिकार रखता है और एक सच्चे संत की तरह सार स्वयं ग्रहण कर थोथा कामगारों को थमा देता है, वैसे ही एक सच्चा संत भी जाना जाता है।"7 (वही) प्रेम जनमेजय लब्ध प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं। आपने हास्य को प्रश्रयता न देते हुए मूलत: व्यंग्य की सार्थकता को अपनी रचनाओं में सिद्ध किया है। व्यंग्य के माध्यम से समाज को एक स्पष्ट दर्पण दिखाया जा सकता है। कुवृत्तियों के निवारणार्थ व्यंग्यकार अपनी भाषा, शैली और अभिव्यक्ति के माध्यम से समाज सुधारने का पुनीत कार्य कर रहे हैं ।